इकाई – 21

वाक्यपदीयम (ब्रह्मकाण्ड)

21.0 उद्देश्य

किसी भी प्राणी के आत्मिक एवं मानसिक व्यवहार को व्यक्त करने के लिए एकमात्र साधन शब्द होता है । अतः शब्द से ही संसार की व्यावहारिक प्रक्रिया चलती है । यह शब्द क्या है, इसकी अभिव्यक्ति होती है या उत्पत्ति ? अर्थ के साथ शब्द का या शब्द के साथ अर्थ का अथवा परस्पर दोनों का क्या सम्बन्ध है, इस प्रकार शब्द विषयक सभी प्रकार के तथ्यात्मक ज्ञान के साथ आचार्य भर्तृहरि द्वारा वाक्यपदीय में प्रतिपादित शब्दार्थविषयकसिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करना प्रकृतपाठ्यशीर्षक का मुख्य उद्देश्य है । जिसके अन्तर्गत निम्न उद्देश्य समाहित है -

1. शब्द के लक्षणों की जानकारी प्राप्त करना ।
2. विभिन्न दार्शनिकों के मत में शब्द के स्वरूप को जानना ।
3. शब्द के नित्य, अनित्य विषयक सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करना ।

4. शब्द, अर्थ एवं दोनों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में जानना।
5. शब्द एवं ध्वनि के स्वरूप को जानना।
6. ध्वनि एवं शब्द में अन्तर का ज्ञान प्राप्त करना।
7. ध्वनि के भेद एवं शब्द के साथ उसका सम्बन्ध ज्ञात करना।
8. शब्द प्रतिपादक व्याकरण में शब्द-स्फोट की जानकारी प्राप्त करना।
9. स्फोट के भेद एवं मुख्य स्फोट का ज्ञान प्राप्त करना।
10. शब्द की व्यापकता और शब्दज्ञान का महत्त्व आदि को समझकर उचित शब्दों के प्रयोग की योग्यता उत्पन्न करना आदि।

21.1 प्रस्तावना

व्याकरण शब्दों का प्रतिपादक एवं निर्वचन करने वाला शास्त्र है जिससे यथार्थ स्वरूप ज्ञान एवं उसके उचित प्रयोग से सभी अभीष्ट (इच्छित) व्यावहारिक कार्य सम्भव होता है। सम्पूर्ण जगत् का व्यवहार शब्द से ही चलता है। अतःशब्द के स्वरूप उत्पत्ति एवं उसके प्रयोग प्रक्रिया के विषय में स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में व्याकरणदर्शन की विशेष परम्परा है जिसमें शब्द विषयक समस्त सिद्धान्तों का निर्वचन किया गया है। व्याकरण के दार्शनिक सैद्धान्तिक ग्रन्थों में आचार्य भर्तृहरि द्वारा विरचित वाक्यपदीयम्, अन्यतमग्रन्थ है एवं जो प्रमाण के रूप में सभी विद्वानों द्वारा समादृत है। अतः वाक्यपदीय में प्रतिपादित विषयों का ज्ञान अपेक्षित है जिसमें वाक्यपदीय का प्रथम काण्ड जो ब्रह्मकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध है विशेष रूप से ध्यातव्य है, जिसका स्वरूप निम्नरूप से है -

वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड में प्रतिपादित प्रमुख विषयों का संक्षिप्त वर्णन -

आचार्य भर्तृहरि रचित वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड) विशुद्ध व्याकरणागम का दर्शन ग्रन्थ है, जो कारिका एवं वृत्ति से युक्त है। इसमें तीन काण्ड हैं (i) ब्रह्म काण्ड (ii) वाक्य काण्ड (iii) पदकाण्ड। ग्रन्थ के नामकरण के आधार पर **"वाक्यं च पदं च इति वाक्यपदे ते अधिकृत्य कृतो ग्रन्थो वाक्यपदीयम्"** इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसमें वाक्यकाण्ड एवं पदकाण्ड के द्वारा यथाक्रम वाक्य एवं पद विचार प्रधान विवेच्य विषय है किन्तु प्रथम काण्ड ब्रह्मकाण्ड मुख्यतः जिसे **आगम काण्ड** कहा जाता है वाक्यपदीय का आधार काण्ड है, इसमें शब्द को ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है। जिसके अनुसार शब्द ही ब्रह्म है जो अनादिनिधन = उत्पत्ति विनाश से रहित, अक्षर, जगत् कारण नित्य और चेतन है। यही शब्दब्रह्म अपनी स्वतन्त्र शक्ति कालशक्ति के द्वारा समस्त जगत् की उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति को नियन्त्रित करता है। इस शब्द ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान एवं प्राप्ति का मुख्य उपाय वेद है, जो एक होनें पर भी कालान्तर में विभिन्न रूपों में अभ्यस्त होनें के कारण अनेक रूपों में विभक्त हो गया। उस वेद के अनेक अंग एवं उपाङ्ग हैं जिसमें व्याकरण को वेद का प्रधान अङ्ग मुखरूप में स्वीकार किया गया है। शब्द ब्रह्म का साक्षात्कार कराने एवं मोक्ष की प्राप्ति का प्रधान साधन होने के कारण व्याकरण को मोक्ष का **आञ्जस मार्ग** कहा गया है। शब्दानुशासन होनें कारण इसमें शब्दार्थ सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हुए शब्द, अर्थ और दोनों के बीच के सम्बन्ध की नित्यता तथा उनके साधुत्व रूप को जानने के लिए प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना को सिद्धान्तित किया गया है। शब्द के दो भेद कहे गये हैं जिसमें प्रथम है व्यञ्जकशब्द जो स्फोटनाम के आन्तरिक शब्द की अभिव्यक्ति का कारण है, जो वैखरी रूप है एवं दूसरा व्यङ्ग्य शब्द स्फोट है, जो वैखरी से

अभिव्यक्त होकर अर्थ बोध कारण है। इस नित्य स्फोट के एक होने पर भी विवर्त रूप में उसके वर्ण पद वाक्य जाति व्यक्ति अखण्डपद, अखण्ड जाति के रूप में विभिन्न भेद माने गये हैं। इसी प्रकार ध्वनि के भेद, प्राकृत एवं वैकृतध्वनि का स्वरूप, प्राकृतध्वनि एवं काल का स्फोट में आरोप, वृत्तिभेद में कारण वैकृतध्वनि आदि का विशुद्ध विवेचन ब्रह्मकाण्ड में है। इसके साथ-साथ स्फोट और ध्वनि का स्वरूप परिचय, शब्द के विषय में मुख्य रूप से शिक्षाकार, जैनियों एवं महाभाष्कार के मतों का विवेचन, सर्वत्र वाग्-रूपता का अनुगमन, शब्द की व्यापकता और उसका पुराणप्रसिद्ध परमात्मात्व की स्थापना, वेदमूलक होनें से व्याकरण का प्रामाण्य जैसे विषयों का सिद्धान्ततः निरूपणकिया गया है। इस प्रकार ब्रह्मकाण्ड, वाक्यपदीय का उपोद्धात, प्रस्तावना एवं वैयाकरणों के अन्यतम सिद्धान्तों का प्रतिपादक काण्ड है।

21.2 वाक्यपदीय के अनुसार शब्दब्रह्म का स्वरूप

शब्दानुशासनशास्त्र व्याकरण में शब्दब्रह्म को जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण कहा गया है , शब्द ब्रह्म ही प्राप्य एवं उपास्य ब्रह्म है। अतः आचार्य भर्तृहरि वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड, ब्रह्मकाण्ड की प्रथम कारिका में शब्द ब्रह्म की स्थापना तथा उसके स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं –

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः[1]॥

ब्रह्म अनादिनिधन अर्थात् जन्म और निधन (विनाश) से रहित है, अतः नित्य है, अक्षर अर्थात् व्यापक है, वह श्रुतियों में प्रसिद्ध शब्दस्वरूप है जिससे वाच्य-अर्थरूप में सम्पूर्ण जगत्-संसार विवर्त अर्थात् जन्म स्थिति लय विकार से युक्त प्रतिभासित हो रहा है।

तात्पर्य है कि जो उत्पन्न तथा विनष्ट नहीं होता और जिसके आगे पीछे उत्पन्न होनें का क्रम भी नहीं है, जो वर्णों का कारण होते हुए भी अविद्यारूपी बाह्य अर्थों की वासना से घट पटादि अर्थ (कर्म) रूप में भासित होता है, जो शब्द एवं अर्थ उभयरूप है जिससे जगत् की समस्त प्रक्रिया उत्पत्ति एवं व्यवहार रूप में चलती है वही ब्रह्म शब्दब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित है।

इस प्रकार वह **ब्रह्म एक है – अद्वितीय है, सत्य ज्ञान-स्वरूप है, देशकाल और वस्तु परिच्छेदों से रहित अनन्त है अर्थात् नित्य और व्यापक है, वही जगत् का विवर्तोपादान कारण है, प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न ज्ञानस्वरूप और शब्दात्मक है।**

21.3 वाक्यपदीय में प्रतिपादित व्याकरण प्रयोजन

भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य में व्याकरण अध्ययन के मुख्य पांच प्रयोजन बताये हैं जो क्रमशः रक्षा, ऊह, आगम, लघु एवं असन्देह है। आचार्य भर्तृहरि ने महाभाष्योक्त उन मुख्य पांच प्रयोजनों के अतिरिक्त एक और प्रयोजन बताया है **मोक्षप्राप्ति** जो व्याकरण का परम प्रयोजन है।

ब्रह्मकाण्ड में ग्यारहवीं कारिका से तेरहवीं कारिका तक रक्षा-ऊह-आगम-लघु-असन्देह रूप पाँचों प्रयोजनों का तथा चौदहवीं कारिका में मोक्ष (अपवर्ग) प्राप्ति रूप परमप्रयोजन का निर्वचन है। रक्षा, ऊह और आगम इन तीन प्रयोजनों का निर्वचन करते हुए कहते हैं -

---

[1] ब्र. काण्ड 1

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः[2]।।

अर्थात् वेदज्ञ ऋषियों ने व्याकरण को शब्दात्मक वेदरूप ब्रह्म का निकटतम साक्षात् उपकारक एवं सभी तपों में श्रेष्ठतम तप तथा अपौरुषेय वेदों का मुखरूप प्रधान अङ्ग कहा है । यह साक्षात् उपकारक रक्षा-ऊह-आगम-लघु एवं असन्देह रूप में होनें से ये प्रयोजनरूप हैं।

वेदों के मुखरूप प्रधान अङ्ग होनें के कारण इस व्याकरण अध्ययन का प्रथम प्रयोजन है **– वेदों की रक्षा । वेदों की रक्षा व्याकरण से ही सम्भव** है क्योंकि व्याकरण के द्वारा वाक्यों में पद विभाग का, पदों में प्रकृति-प्रत्यय के विभाग का निर्धारण तथा उदात्त आदि स्वरों के अनुसार शब्दविशेष का किसी अर्थ विशेष में साधुत्व ज्ञान किया जाता है जिससे वेद के यथार्थ का ज्ञान प्राप्तकर तदनुरूप प्रयोग से वेद की रक्षा होती है । **अतः वेदों की रक्षा अर्थात् साधुत्व ज्ञानपूर्वक प्रयोग करने के लिए व्याकरण अध्ययन आवश्यक है ।**

व्याकरण का दूसरा प्रयोजन है- ऊह (तर्क)– यज्ञों में अंगभूत-द्रव्यों एवं देवताओं के अनुरूप मन्त्रविशेष का प्रयोग होता है जिसके अनुसार मन्त्रों में लिङ्ग विभक्ति वचन का ऊह (तर्क-कल्पना) करके परिवर्तन किया जाता है और शब्द प्रयोग में इस प्रकार का परिवर्तन वैयाकरण ही करने में समर्थ होता है । अतः व्यवहार काल में ऊह (यथास्थल अनुरूप शब्दों के प्रयोग) के लिए व्याकरण अध्ययन आवश्यक है ।

तृतीय प्रयोजन है आगम–आगम शास्त्रों का अध्ययन निष्कारण भी करना **चाहिये यह वेद का आदेश है ।** आगमशास्त्र- अदृष्ट पुण्य फल के साधक होते हैं, व्याकरण तो ऐसा आगमशास्त्र है जो दृष्ट-अदृष्ट, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, ऐहिक-पारलौकिक उभयविध फलों का साधक है । यह शब्दों का ज्ञान कराकर, उसके सही प्रयोग के द्वारा उभयविध फलों को प्राप्त कराता है । अतः **आगम शास्त्र** के रूप में भी व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये ।

चतुर्थ प्रयोजन लाघव - व्याकरणाध्ययन के लघु (लाघव) रूप चतुर्थ प्रयोजन का विवेचन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं –

प्राप्तरूप विभागाया यो वाचः परमो रसः ।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः[3] ।।

तात्पर्य है कि जो क्रम रहित पश्यन्ती वाग्रूपी शब्दतत्त्व, वर्ण पद और वाक्य के रूप में विभक्त हुआ हैऔर जो साधु असाधु सभी शब्दसमुदाय रूप वैखरी वाणी का परमसार अर्थात् उत्तम रसरूप है, जो स्व-पर (स्वयं एवं दूसरों) को प्रकाशित करने वाला ज्योतिस्वरूप है और श्रुति प्रसिद्ध पुण्य का जनक (देने वाला) तथा स्वयं अतिशय पुण्य रूप है, उस शब्दसमुदाय कासामान्यविशेष लक्षण के द्वारा साधुत्व ज्ञान कराने का सबसे लघु उपाय अर्थात् नैसर्गिक तथा सरलतम एक मात्र मार्ग यह व्याकरण है । अतः लाघव के लिए व्याकरण अध्ययन करना चाहिये ।

पञ्चम प्रयोजनहै असन्देह –महाभाष्योक्त **असन्देहार्थञ्चाध्येयं व्याकरणम्–**अर्थात् सन्देह के अभाव के लिए व्याकरण पढ़ना चाहिये इस पञ्चम (पांचवे) प्रयोजन का प्रतिपादन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

---

[2] ब्र.काण्ड 11

[3] ब्र.काण्ड 12

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते[4] ।।

किसी भी कार्य व्यवहार में प्रवृत्ति का ज्ञान कराने वाला शब्द ही होता है क्योंकि **घटम् आनय पटं नय,** घड़ा लाओ, वस्त्र ले जाओ इत्यादि शब्द को ही सुनकर व्यवहार (प्रयोग) हो सकता है अतः प्रवृत्ति का मूल कारण शब्द ही है और शब्दों के यथार्थ स्वरूप का सम्यग् ज्ञान व्याकरण को छोड़कर अन्य किसी उपाय से नहीं होता। अतः सन्देह रहित (असन्देहात्मक) ज्ञान के लिए व्याकरण ही एकमात्र उपाय होनें से असन्देहार्थ व्याकरण अध्ययन करना चाहिये।

इस प्रकार सरलव्यवहार का निबन्धन (बोधक) जो शब्दतत्त्व है उसके साधुस्वरूप का व्युत्पादक और ज्ञापक होनें के कारण व्याकरण सभी विद्याओं में प्रधान है ।

व्याकरण का परमप्रयोजन- मोक्षप्राप्ति –

आचार्य भर्तृहरि महाभाष्यप्रतिपादित व्याकरण के मुख्य पाँच प्रयोजनों को बताकर मोक्षप्राप्ति रूप व्याकरण का परमप्रयोजन बताते हैं–

तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते[5] ।।

यह व्याकरण अपवर्ग (मोक्ष) का द्वार है अर्थात् मोक्ष रूपी फल का साधक पुण्यरूप-अपूर्व है क्योंकि यह वाणी के अपभ्रंश रूप मलों का निवारण व प्रक्षालन कर वाणी का संस्कार करता है अर्थात् वाणी को शुद्ध करता है। अत एव यह सभी विद्याओं के शब्द-शरीर को शुद्ध एवं पवित्र करने वाला तथा स्वयं पवित्र है। यह सभी को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है। तात्पर्य है कि व्याकरण केवल शक्तिग्रह के लिए ही नहीं अपितु ब्रह्म साक्षात्कार के लिए भी उपयुक्त है । व्याकरण के द्वारा ही वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती वाक् का ज्ञान होता है। **पश्यन्ती ही परा वाक् रूप में ब्रह्म है**। अतः ब्रह्म ज्ञान (मोक्ष) रूप परमपद प्राप्ति का कारण व्याकरण भी है।

मोक्षो नाम **–अज्ञानबन्धदुःखान्मुक्तिः ।अज्ञानबन्धनजन्यदुःख से मुक्ति ही**मोक्ष है जो कि ब्रह्म और स्वात्मा के अभेदज्ञान से प्राप्त होता है – ब्रह्मात्मैक्य दर्शन से भेदज्ञान नष्ट हो जाता है फलतः ब्रह्मस्वरूप में स्वात्मा का प्रवेश हो जाता है अर्थात् ब्रह्मस्वरूपता की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् आत्मा का ब्रह्मस्वरूप में प्रवेश ही मोक्ष है। व्याकरण इस आत्मा को ब्रह्मस्वरूप प्राप्त करानेवाला द्वार है, व्याकरण का ही यह व्यापार है कि साधुशब्द के विवेक ज्ञान से अनादिनिधन अक्रम-अखण्ड शब्दतत्त्वरूप-ब्रह्म का दर्शन, अज्ञानकृत भेदबुद्धि का उच्छेद कर अभेद ज्ञान से ब्रह्मरूपता की प्राप्ति कराता है। अतः व्याकरणाध्ययन का भी परमप्रयोजन मोक्ष प्राप्ति ही है।

21.4 वाक्यपदीय में प्रतिपादित शब्दार्थसम्बन्ध

वैयाकरण के मत में शब्द, अर्थ एवं शब्दार्थदोनों में रहने बाला सम्बन्ध ये तीनों हीं नित्य हैं। भगवान् महाभाष्यकार पतञ्जलि इसे "सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे" वार्तिक के द्वारा कहते हैं कि **-शब्दो नित्यः अर्थो नित्यः तयोः यः सम्बन्धः सोऽपि नित्यः** । इसी प्रकार सूत्रकार पाणिनि, वार्तिककार कात्यायन ने भी शब्द, अर्थ और इसके सम्बन्ध को नित्य कहा है। आचार्य भर्तृहरि शब्दार्थसम्बन्ध को नित्य बताते हुए कहते हैं कि –

[4] ब्र.काण्ड 13
[5] ब्र.काण्ड14

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाताः महर्षिभिः ।
सूत्राणामनुतन्त्राणां भाष्याणाञ्च प्रणेतृभिः[6] ।।

अर्थात्- सूत्र, वार्तिक और भाष्य के प्रणेता क्रमशः पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि महर्षियों ने शब्द-अर्थ और उनके शक्तिरूप सम्बन्ध को नित्य कहा है।

तात्पर्य है कि जैसे चक्षुः घ्राण आदि इन्द्रियों का अपने विषय रूप, गन्ध आदि के साथ ग्राह्य-ग्राहक, प्रकाश्य-प्रकाशकभाव योग्यता रूप स्वाभाविक अनादि सम्बन्ध है जो कि नियत है, नित्य है, वैसे ही घट-पट आदि शब्दों का अर्थों के साथ वाच्य-वाचकभाव अथवा बोध्य-बोधकभावरूप अनादियोग्यता सम्बन्ध नियत है। किसी की विवक्षा के अधीन किया गया नहीं है। इसी दृष्टि से पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि तीनों महर्षियों ने शब्द अर्थ सम्बन्ध तीनों को नित्य माना है।

सर्वप्रथम शब्दार्थसम्बन्ध के नित्यत्व विषय में प्रमाण है पाणिनि का –**"तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्"** यह सूत्र। इसका अर्थ है कि प्रकृतिवद्लिङ्ग और संख्या का विधायक "लुपि युक्तवत्" यह सूत्र नहीं बनाना चाहिये, क्योंकि संज्ञा शब्द ही स्वयं लिङ्ग और संख्या का बोध करानें में समर्थ है। अर्थात् पञ्चालानां क्षत्रियाणां निवासो जनपदइस अर्थ में, **"तस्य निवासः"** इस सूत्र से अण् प्रत्यय और**"जनपदे लुप्"** इस सूत्र से अण् प्रत्यय का लुप् होकर"लुपि युक्तवत्" इस सूत्र से प्रकृतवल्लिङ् संख्याविधान करके बहुवचन में पञ्चाला व्यक्तिवचने प्रयोग बनता है। यहाँ यह कथन है कि प्रकृतिलिङ्गसंख्या का बोधक **"लुपि युक्तवत्"** तद् = वह (सूत्र) अशिष्यम् – नहीं करना चाहिये, संज्ञानां प्रमाणत्वात् अर्थात् संज्ञा शब्द का स्वयं लिङ्गसंख्या के बोध होने के कारण। तात्पर्य है कि जैसे अप्-दार-अपत्य आदि शब्द अवयवार्थ के ज्ञान के विना ही रूढि संज्ञा होने से लिङ्ग-संख्या-कारक युक्त वस्तु का ज्ञान कराता है क्योंकि उनका अर्थ से स्वाभाविक-नित्य सम्बन्ध है, शब्द भी नित्य है, उसमें भी किसी अवयव के योग का ज्ञान नहीं होता, ऐसे ही प्रकृति प्रत्यय-अवयव के ज्ञान के विना पञ्चाल आदि शब्द भी संज्ञा होने से ही जनपद का ज्ञान करा सकता है। लुपि युक्तवद् सूत्र नहीं बनाना चाहिये यह व्यवस्था शब्द के नित्यत्व होनें से ही सम्भव है जो "तदशिष्य संज्ञाप्रमाणत्वात्" के द्वारा आचार्य सूचित करते हैं। इस प्रकार सभी शब्द कथन मात्र से ही लिङ्ग संख्या कारक विशिष्ट किसी द्रव्य का बोधक होता है। अतः लुपि युक्तवत् इन वचनों की आवश्यकता नहीं है। प्रकृति-प्रत्यय-अवयव विभाग कल्पित है। इससे यह सिद्ध होता है कि शब्द-अर्थ सम्बन्ध सभी नित्य है। शब्दार्थ सम्बन्ध में कात्यायन का**"सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे"** यह वार्तिक तथा इसके उपर पतञ्जलि का भाष्य भी स्पष्टरूप से प्रमाण है।

21.5 वाक्यपदीय के अनुसार शब्द में ग्राह्यत्व-ग्राहकत्व रूप शक्ति का निरूपण

शब्दलक्षण के प्रसङ्ग में "गौरित्यत्र कः शब्दः" इस प्रतीक के द्वारा महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि दो लक्षण प्रस्तुत किये हैं – 1. येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुद्खुर-विषाणिनां संप्रत्ययो भवति **स शब्दः । अथवा 2. प्रतीत** पदार्थको लोके **ध्वनिः शब्द इत्युच्यते** इति। भाष्य के इस निर्देश के अनुसार आचार्य भर्तृहरि शब्द का द्विविध स्वरूप बताते हैं –

6ब्र. का. 23

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते[7]॥

अर्थात् शब्दविदः – शब्द को जानने वाले वैयाकरण, उपादानशब्देषु = वाचकशब्देषु, अर्थबोध के कारण शब्द के विषय में, द्वौ शब्दौ विदुः **–दो प्रकार केशब्द मानते हैं,** पहला शब्द का निमित्त आर्थात् व्यञ्जक शब्द, जो स्फोटनामक आन्तरिकव्यङ्ग-शब्द की अभिव्यक्ति का कारण है एवं**वैखरीध्वनिरूप** है, **दूसरा– व्यङ्ग्य स्फोट**शब्द जो वैखरी से अभिव्यक्त होकर अर्थ बोध का कारण है।

तात्पर्य है कि भाष्यनिर्देशानुसार अर्थ का वाचक शब्द दो प्रकार का होता है जिसमें **प्रथमवह** जो श्रोत्र (कर्णेन्द्रिय) का विषय "वैखरीवाणी" बाह्य ध्वनिरूप है एवं कण्ठताल्वादि स्थानों में वक्ता के प्रयत्नजन्य वायु के अभिघात से उत्पन्न क ख आदि वर्णो के पूर्वपर क्रम से पद-वाक्य के रूप में प्रयुक्त होता है जिसको लोक में सभी "शब्द" कहते हैं तथा न्यायदर्शन मे जिसे शब्द कहा गया है। वैयाकरण के मत में वह स्फोटक का व्यञ्जक है और स्फोट के अभिव्यंजन व प्रकाशन से वह भी परम्परया अर्थ का वाचक है।

दूसरा शब्द वह है जो हृदय देश में स्थित "मध्यमावाणी" नादरूप है। वह श्रोत्र का विषय नहीं है, वह उपांशु जप में योगी को ध्यान से गम्य होता है। वस्तुतः यह स्वयं वर्ण पद आदि क्रमविभाग से रहित अखण्ड है किन्तु जैसे दर्पण स्फटिक आदि में रक्त –पीत-हरित पुष्पों के प्रतिबिम्ब क्रम से वह स्फटिक वैसा ही प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार वैखरी के वर्ण आदि क्रम रूप से प्रतिबिम्बित होकर वर्ण पद आदि क्रमवाला प्रतिभासित होता है, यही इसकी अभिव्यक्ति है। फलतः स्फोट नियमतः व्यञ्जक ध्वनि के रूप से प्रतिबिम्बित ही प्रकाशित होता है। **अतः श्रोत्र-ग्राह्य ध्वनि, स्फोट का व्यञ्जक तथा स्फोट, व्यङ्ग्य माना गया है**। यह नित्य सिद्ध नादात्मक स्फोट ही शक्ति का आश्रय तथा साक्षात् अर्थ का वाचक होता है।

यहाँ विशेष रूप से यह ध्यातव्य है कि – एक ओर हृदय देश में स्थित स्वप्रकाशज्ञानस्वरूप अखण्डस्फोट, व्यञ्जकध्वनि के वर्ण पद आदि रूप से प्रतिबिम्बित होता है, **तो दूसरी** ओर शब्द बोध्यअर्थ का आकार भी प्रतिबिम्बित होता है। फलतः शब्द में अर्थ संक्रान्त होकर शब्दरूपता को ग्रहण कर लेता है, जिससे शब्द अर्थ दोनों का तादात्म्य होता है, क्योंकि शब्द अर्थ दोनों ही मूलतः बौद्ध है, ज्ञानरूप है। अत एव शब्द, अर्थ दोनों का एकाकार व्यवहार होता है, यह शब्द का तादात्म्य सम्बन्ध भी है। इस प्रकार उपादान शब्द के द्वारा यहाँ दोनों प्रकार के शब्दों का ग्रहण होता है - बाह्य वर्णपदाद्यात्मक ध्वनिरूप व्यञ्जक शब्द और आन्तरशब्द जो ध्वनि से अतिरिक्त स्वयं क्रम रहित (अक्रम) होने पर भी व्यञ्जकधर्म के उपराग से क्रम प्राप्त (सक्रम) प्रतिभासमान् स्फोट रूप व्यङ्ग्य शब्द है। ये दोनों प्रकार के शब्द व्याकरण के प्रतिपाद्य विषय हैं।

वाक्यपदीय के अनुसार शब्द में ग्राह्यत्व-ग्राहकत्व रूप शक्ति निरूपण –

एक ही शब्द उपाधिभेद से संज्ञा और संज्ञी हो सकता है, विशेषण-विशेष्य उभयविध रूप में प्रयुक्त हो सकता है जिसे बताकर शब्द की ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व इन दो शक्तियों का निरूपण करते हैं–

ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगिव स्थिते[8]॥

---

[7] ब्र. का. 44

[8].ब्र. काण्ड 55

अर्थात् जैसे तेज (प्रकाश) की ग्राह्यत्व (स्वयं प्रकाश्यत्व) और ग्राहकत्व (अन्य-वस्तुओं का प्रकाशकत्व) ये दो शक्ति हैं वैसे ही सभी शब्दों की ग्राह्यत्व एवं ग्राहकत्व दो शक्ति है जो वस्तुतः एक होने पर भी पृथक् जैसी रहती है।

तात्पर्य है कि सूर्य आदि का प्रकाश स्वयं को प्रकाशित करने के साथ साथ अन्य सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है। अत एव वह स्वयं स्व से प्रकाश्य होनें से ग्राह्य एवं सभी अन्य वस्तुओं का प्रकाशक होनें से ग्राहक भी होता है। वस्तुतः सूर्य आदि तेज पदार्थ तो स्वयं प्रकाशरूप है प्रकाश्य नहीं, किन्तु चाक्षुष-प्रत्यक्ष में प्रकाशसहकारी कारण होता है अत एव जब चक्षुरिन्द्रिय से रूपवान् वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है तब प्रकाश चक्षुरिन्द्रिय का अञ्जन के समान संस्कारक व अनुग्राहक बनकर चाक्षुष (नेत्र द्वारा प्राप्त) ज्ञान का साधक होनें से ग्राहक होता है, इसके साथ ही प्रकाश स्वयं भी चक्षु से अन्धकारादि भिन्न वस्तुओं से व्यावृत्तरूप ज्ञान का विषय होता है जिससे वह ग्राह्य भी माना जाता है। ऐसे ही **शब्द स्वयं ग्राह्य और अर्थ का ग्राहक** भी है। उच्चारित शब्द स्वयं स्व से ग्राह्य होकर अर्थ का बोधक व ग्राहक होता है। उच्चारित "घट" आदि शब्द घ् अ ट् अ इस आनुपूर्वी से भिन्न पट आदि अन्य शब्दों से व्यावृत्त (अलग) रूप गृहीत होनें पर ही श्रोता को नियत अर्थ का बोधक होता है। अत एव शब्द में ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व उभयविध शक्ति स्पष्ट है। वस्तुत ये दोनों शक्ति शब्द से तथा परस्पर वस्तुतः अभिन्न है, भिन्न नहीं किन्तु व्यवहार में भिन्न सी प्रतीत होती है जैसे अग्नि में प्रकाशकत्व और दाहकत्व ये दोनों शक्ति अग्नि से तथा परस्पर भी अभिन्न रहने पर भी प्रकाश और दाहकार्य के भेद से भिन्न व्यवहृत होती है।

इस प्रकार कार्यभेद से शक्ति का तथा शक्ति के आश्रय का कल्पित भेद व्यवहार भले ही हो वस्तुतः अर्थभेद से शक्ति भेद अथवा शक्तिभेद से शब्द का भेद नहीं है।

21.6 स्फोटरूप शब्द का अर्थ एवं स्व स्वरूप (शब्दस्वरूप) उभय प्रकाशकत्व –

आचार्य पाणिनि ने **"स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा"** सूत्र के द्वारा शब्द के स्वरूप का भी ग्रहण होने का संकेत दिया है। इस सूत्र में **स्व** पद अपने शब्दस्वरूप का एवं **रूप** पद अर्थ का वाचक है। इस प्रकार शब्द से अर्थ के साथ शब्दस्वरूप भी प्रकाशित होता है। आचार्य भर्तृहरि इसे ज्ञानदृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं –

आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेय रूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते[9]।।

अर्थात् जैसे ज्ञान में अपना स्वरूप और ज्ञेयविषय का स्वरूप दोनों ही प्रकाशित होता है वैसे शब्द में अर्थ का स्वरूप और अपना वर्ण, पद रूप भी प्रकाशित होता है।

तात्पर्य है कि – स्वयं प्रकाशमान ही ज्ञान विषय को प्रकाशित करता है. अप्रकाशमान ज्ञान ज्ञेय विषय को प्रकाशित नहीं कर सकता है। स्वप्रकाश होने से ही ज्ञान होने पर ज्ञान के स्वरूप के विषय में कभी किसी को यह सन्देह नहीं होता कि मुझे ज्ञान है या नहीं इसलिए ज्ञान स्वयं-स्व का विषय होता है क्योंकि वह स्वप्रकाशस्वरूप है, वह कभी भी अप्रकाशमान नही रहता। तभी तो वह ज्ञान कालन्तर में स्मृति रूप में परिणत होता है। ज्ञान के समान ही शब्द भी जब अर्थ को प्रकाशित करता

---

[9] ब्र. का. 50

है तब अर्थ के साथ साथ अपने वर्ण पद आदि स्वरूप को भी प्रकाशित करता है, अपने स्वरूप को प्रकाशित किये विना कभी अर्थ को प्रकाशित नहीं करता है, क्योंकि शब्दस्वरूप से बोधित अर्थ और अर्थ से आलिङ्गित ही शब्द है, परस्पर दोनों का तादात्म्य है। फलतः शब्द का अभिधेय जहाँ जाति व्यक्ति आदि होते हैं वहाँ स्वयं शब्द भी शब्द का अभिधेय होता है। अत एव शब्द भी शाब्दबोध का विषय होता है। शब्द, अर्थ दोनों समान रूप में शब्द से प्रकाशित होते हैं। इतना अवश्य है कि उनका विशेष्य-विशेषणभाव प्रकरणानुसार विवक्षा के अधीन होता है।

यहाँ अवधेय यह है कि शब्दों का शब्द और अर्थ में खण्डशः शक्ति है दोनो का विशेष्य-विशेषण भाव के रूप में प्रयोग विवक्षानुसार होता है, कहीं अर्थ विशेष्य और शब्द विशेषण होता है तो कहीं शब्द विशेष्य और अर्थ विशेषण होता है। जहाँ अर्थ में कार्य सम्भव होता वहाँ अर्थ विशेष्य जैसे "गाम् आनय" । जहाँ अर्थ का बाध होता वहाँ शब्द विशेष्य होता जैसे- व्याकरण आदि में **"गोपयसोर्यत्"** सूत्र से गो तथा पय (दुध) आदि अर्थ से यत् प्रत्यय का विधान असम्भव होनें यहाँ प्रत्यय शब्द से ही होता है। ऐसे स्थलों में **"स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा"** इस सूत्र के अनुसार संज्ञाविधि से भिन्न प्रत्यय आदेश आदि विधि के विषय में शब्द विशेष्य होता है तथा अर्थ शब्द का विशेषण होता है।

21.7 अखण्ड स्फोट स्वरूप शब्द एवं नित्य भेद में काल भेद एवं वृत्ति भेद की प्रतीति औपाधिक –

वैयाकरण परम्परा में **भाट्टमीमांसक तथा उनके अनुगामी वैयाकरणों में** कौण्डभट्ट आदि के मत में वर्ण-पद-वाक्य रूप ही नित्यशब्द अभिमत है, जिसको कौण्डभट्ट स्फोट कहते हैं और उसे क्रमिक वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट की संज्ञा देते हैं। कैयट तथा उनके पक्षधर नागेश आदि भाष्यसम्मत तथा भर्तृहरि द्वारा सिद्धान्तित ध्वनिरूप वर्ण आदि से भिन्न तथा ध्वनि से अभिव्यङ्ग्य मध्यमा वाक्स्वरूप को स्फोटात्मक अखण्ड शब्द मानते हैं।

आचार्य भर्तृहरि भी भाष्यसम्मत अखण्ड स्फोटरूप को ही शब्द को मानते हैं तथा पद में वर्णविभाग तथा वाक्य में पदविभाग का निषेध करते हैं। उनका कथन है कि-

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन[10] ।।

अर्थात् जैसे अकार ककार ऋकार औकार आदि वर्णों में जो अवयव के सदृश रेफ अ इ आदि प्रतीत होते हैं अवयव नहीं है, वैसे ही पदों में जो वर्णों की प्रतीति होती है वह भी भ्रम ही है वे पदों के अवयव नहीं है और वाक्यों में भी जो अलग-अलग पदों की प्रतीति होती है वे वाक्यों के अवयव नहीं है क्योंकि वाक्यों से अलग पदों की कोई सत्ता नहीं है। तात्पर्य है कि वाक्य में भी पदविभाग नहीं है।

अभिप्राय यह है कि जैसे अकार ककार आदि वर्ण का अवयव भेद नहीं होनें से अपने रूप में अखण्ड एक है, ऐसे ही पद तथा वाक्य में भी अवयव भेद नहीं रहने से वस्तुतः अपने रूप में अखण्ड है, एक है। यद्यपि "ऋ लृ" आदि वर्णों में क्रमशः रेफ लकार आदि अवयव वर्णों का आभास होता है परन्तु

---

[10] व्र. का. 73

उनमें वस्तुतः कोई अवयव वर्ण नहीं है, इसी प्रकार पद में अनेक वर्ण तथा वाक्य में अनेक पद अवयव सदृश प्रतीत होते है, किन्तु वस्तुतः वे उनके अवयव नहीं है। जैसे प्रत्येक वर्ण अखण्ड है ऐसे पद और वाक्य वस्तुतः अखण्ड है।

इसमें इतना अवश्य है कि – वाक्य के ज्ञान के लिए उसमें अवयवरूप पदों की तथा पद के ज्ञान के लिए उसमें अवयवरूप वर्णों की कल्पना उपायरूप में की जाती है । शास्त्रीय प्रक्रिया तथा लोकव्यवहार के निर्वाह के लिए अपोद्धार द्वारा अखण्डवाक्य में अवयवरूप पद विभाग तथा पद में अवयवरूप वर्णविभाग किया जाता है जिससे रूढि होकर वाक्य में पदों की, पदों में वर्ण की अवयवरूप में प्रतीति होती है। अतः वस्तुतत्त्व सिद्धान्त रूप में अवयवभेद पूर्वापरक्रम भेद से रहित "शब्द" स्वतः अखण्ड है। वाक्य से पद का, पद से वर्ण का भेद उपाधि कल्पित है। शब्द में कत्व, खत्व आदि जो भी धर्म भेद लक्षित होते हैं वे उसके नहीं है, अपितु अभिव्यञ्जक जो ध्वनि अथवा ध्वनि के कारण वायुसंयोग है, उनके धर्म है जो कि व्यङ्ग्य शब्द में प्रतिभासित होते हैं जैसे कि स्फटिक में गुलाब आदि पुष्प की लालिमा प्रतिबिम्बरूप में प्रतिभासित होती है।

नित्य स्फोट में कालभेद एवं वृत्तिभेद की प्रतीति-औपाधिक –

व्याकरण में शब्द अर्थ और उसके सम्बन्ध को नित्य माना गया है। नित्य शब्द में काल कृत भेद नहीं होता है, पुनः उसमें ह्रस्वदीर्घादि-द्रुतादिवृत्तियों का बोध कैसे होता है, यदि इसमें कालकृत भेद है तो शब्द नित्य नहीं हैं ऐसी आशङ्का में वाक्यपदीयकार कहते हैं

स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनि कालानुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते[11] ।।

अर्थात् यह स्फोट रूपी शब्द कालकृतपरिच्छेद से रहित है अतः नित्य है क्योंकि कालिकसम्बन्ध से नित्य कहीं नहीं रहता है। तथापि स्फोट को व्यक्त करने वाली ध्वनि में कालिक सम्बन्ध होने से स्फोट के ग्रहण(बुद्धि या व्यञ्जक ध्वनि) रूपी उपाधियों के भेद से द्रुतमध्य विलम्बित या ह्रस्व दीर्घप्लुत आदि वृत्ति भेद माने जाते है । अतः नित्य स्फोटशब्द में कालकृतभेद द्रुतादिह्रस्व-दीर्घादिभेद औपाधिक प्रतीति मात्र है।

तात्पर्य है कि जैसे नित्य होने से आत्मा का कालपरिमाण नहीं है, ऐसे ही नित्यशब्द स्फोट का कोई कालपरिमाण नहीं है, वह अपने स्वरूप से एकमात्रा द्विमात्रा आदि कालभेद से तथा द्रुतविलम्बित स्थिति रूप वृत्तिभेद से रहित है यह सत्य है परन्तु उपाधिकल्पित कालभेद तथा वृत्तिभेदवाला भी होता है, क्योंकि अपने व्यञ्जक ध्वनि के रूप में प्रतिबिम्बित ही स्फोट की उपलब्धि होती है, शुद्धरूप में नहीं। फलतः ध्वनि और स्फोट का भेद कभी परिलक्षित नहीं होनें से दोनों का अभेद आरोपित हो जाता है, ध्वनि के अभिन्न रूप में स्फोट का ज्ञान होता है। जितनी मात्रा में जब तक ध्वनि की स्थिति होती है उतनी मात्रा में तभी तक स्फोट की उपलब्धि उसी रूप में होती है। अतः ध्वनि के जो ह्रस्व-दीर्घप्लुतरूप एकमात्रा-द्विमात्रा, त्रिमात्रा कालभेद है, वे सब स्फोट के कालभेद व्यवहृत होते हैं, साथ ही ध्वनि के जो अल्पकाल-दीर्घकाल स्थिति के भेद से वृत्ति भेद हैं वे भी स्फोट कहे जाते हैं और वे औपाधिक हैं।

[11] ब्र.काण्ड 75

21.8 वाक्यपदीय के अनुसार ध्वनिभेद, स्वरूप एवं स्फोट बोध में कारण ध्वनि

स्फोटरूपी नित्य शब्द में कालकृतादि भेद की प्रतीति औपाधिक है जो कालकृतध्वनि के भेद से परिलक्षित होता है। नित्य शब्द में कालभेद का प्रयोजक ध्वनि **प्राकृतध्वनि** है। प्राकृतध्वनि का जो काल है वह नित्यशब्द में आरोपित हो जाता है और व्यवहारपरम्परा से रूढ होकर वही शब्द का काल कहा जाता है। इस प्रकार नित्य शब्द में कालभेद का प्रयोजक प्राकृतध्वनि को बताते हुए आचार्य भर्तृहरि का कथन है कि-

स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु ।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते[12] ।।

अर्थात् शब्द के नित्य होनें पर भी प्राकृतध्वनि का जो स्वाभाविक ह्रस्व दीर्घ प्लुतादि का भेद है उसका आरोप नित्य शब्द में किया जाता है जो शब्द के भेद के रूप में व्यवहृत होता। वस्तुतः वह शब्द का आरोपित भेद है वास्तविक नहीं।

ध्वनि, प्राकृत एवं वैकृत के भेद से दो प्रकार का है। इन दोनों के स्वरूप का वर्णन करते हुए वाक्यपदीयकार भर्तृहरि कहते हैं-

वर्णस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरुच्यते ।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते[13] ।।

अर्थात् वर्णरूप स्फोट के ज्ञान में जो हेतु (कारण) ध्वनि है वह **प्राकृत ध्वनि** कहा जाता है तथा द्रुतविलम्बित आदि वृत्तिभेद में **जो ध्वनि निमित्त कारण** होता है, वह वैकृतध्वनि कहा जाता है।

तात्पर्य यह है कि विवक्षा प्रयत्न के कारण कण्ठ आदि स्थानों में विलक्षण वायु के अभिघात से उत्पन्न **प्राकृतध्वनि** ह्रस्वदीर्घ आदि बाह्य नानावर्णरूप है उससे अत्यन्त पृथक् नित्यशब्द-स्फोट आन्तर है किन्तु वह प्राकृतध्वनि व्यंजक उपाधि होकर स्फोट को अपने नाना वर्ण रूप से उपरञ्जित (अपने स्वरूप में परिवर्तित) करता है जिसके परिणामस्वरूप प्राकृत ध्वनि का जो नाना वर्णरूप है वह स्फोट में अभिव्यक्त होकर स्फोट का स्वरूप बन जाता है। इस प्रकार वर्णरूप स्फोट के ज्ञान में कारण होता है – **प्राकृतध्वनि**। साथ ही प्राकृतध्वनि अपने स्वरूप से विषयरूप में भी वर्ण स्फोट के ज्ञान में कारण होता है।

इससे विलक्षण है – वैकृतध्वनि। यह स्फोट का स्वरूपोपधायक अर्थात् व्यंजक नहीं है, किन्तु अभिव्यक्त स्फोट की चिरकाल वा अचिरकाल तक स्थिति का प्रयोजक है, कोई एक ही शब्द को जल्दबाजी (क्षणभर) में बोलता है तो दूसरा कोई देर (बिलम्ब से) बोलता है, उसमें शब्द का स्वरूप भेद का व मात्रारूप काल भेद होता है। शब्द की अभिव्यक्ति के पश्चात् उसकी अल्पकाल या अधिककाल तक स्थिति का उपलब्धिरूप जो द्रुत मध्य विलम्बित वृत्तियाँ है, उनके भेद का निमित्तकारण वैकृत ध्वनि है, जो कि स्फोट की अभिव्यक्ति के पश्चात् होने से स्थिति प्रयोजक होता है, स्वरूप भेद प्रयोजक नहीं।

इस प्रकार – प्राकृत एवं वैकृत ध्वनि में स्फोट का ग्राहक हेतु प्राकृत ध्वनि एवं द्रुतादिबिलम्बित स्थिति का प्रयोजक वैकृतध्वनि होता है।

[12] ब्र. काण्ड 76
[13] ब्र.काण्ड 77

21.9 वाक्यपदीय के अनुसार शब्द की अभिव्यक्ति में ध्वनिकार्यविषयक विभिन्न मतों की समीक्षा –

शब्द की अभिव्यक्तिवादियों के अनुसार – शब्द की अभिव्यक्ति में ध्वनि अभिव्यञ्जक होता है, अभिव्यञ्जक का तात्पर्य है, आवरणभङ्ग या विशेष आधान या संस्कार विशेष के द्वारा सिद्धवस्तुओं का ज्ञान कराने बाला। ध्वनि किस प्रकार से शब्द का अभिव्यञ्जक होता है, अर्थात् कैसे होता है ध्वनि के द्वारा वर्ण का संस्कार के विषय में प्रसिद्ध **तीन मतों** का उपस्थापन करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि-

इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य वा।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम्।।

अर्थात् ध्वनि के द्वारा किसका संस्कार किया जाता है जिससे शब्दप्रकाशित होता है, इस विषय में अभिव्यक्तिवादियों के तीन मत है (1) ध्वनि के द्वारा इन्द्रिय का ही संस्कार होता है, (2) ध्वनि से केवल शब्द का संस्कार किया जाता है, (3) ध्वनि से इन्द्रिय और शब्द दोनों का संस्कार किया जाता है।

तात्पर्य है कि नित्य शब्दवादी ध्वनि को शब्द का व्यञ्जक मानते हैं अर्थात् बाह्य ध्वनि से आन्तर शब्द की अभिव्यक्ति मानते हैं। शब्द की अभिव्यक्ति प्रक्रिया में तीन मत है –

(1) प्रथम मत के अनुसार कण्ठ आदि स्थानों में वायु के आघात से उत्पन्न ध्वनि श्रोत्रेन्द्रिय का अतिशयाधान रूप संस्कार करता है। अर्थात् श्रोत्र में शब्द के ग्रहण का जो सामर्थ्य विशेष है, उसके अवरोध को दूर कर ध्वनि अपने रूप में आन्तर शब्द का सन्निकर्ष (सामीप्य) स्थापित करता है। इस प्रकार ध्वनि के सन्निकर्ष से अवरोधमुक्त व संस्कृत श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है। यह **शब्द स्फोट है।**

(2) दूसरा मत है कि – ध्वनि के संसर्ग से केवल शब्द का संस्कार होता है अर्थात् स्फोट रूप आन्तरध्वनि के उपराग से व्यक्त वर्णक्रमरूप को प्राप्त करता है जिससे प्राप्त संस्कार वह व्यक्त शब्द श्रोत्र के ग्रहण का विषय होता है, क्योंकि उद्भूत् विषय ही इन्द्रिय का विषय होता है, अव्यक्त "सूक्ष्म" नहीं है। अतः ध्वनि से शब्द का ही संस्कार होता है।

(3) तीसरा मत समन्वयवादी सिद्धान्त है कि ध्वनि श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द दोनों का संस्कार व उपकार करता है। ध्वनि के व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव सम्बन्ध से व्यक्त आन्तरशब्द ध्वनि के रूप में श्रोत्र के साथ सन्निकर्ष पाकर श्रोत्र में अतिशयाधान से श्रोत्र का संस्कार करता है, साथ ही ध्वनि अपने संसर्ग से आन्तर शब्द को व्यक्त रूप देकर शब्द का भी संस्कार करता है। ध्वनि से अभिव्यक्त शब्द ही श्रोत्र का विषय होता है।

सिद्धान्त के रूप में– श्रोत्रेन्द्रिय का संस्कार है, ध्वनिरूप से शब्द के सन्निकर्ष से श्रोत्र में होने वाला अतिशयविशेष, वह न होने पर दूर व्यवहित उच्चारित शब्द का देशान्तर में स्थित व्यक्ति को ज्ञान नहीं होता है। विषय का संस्कार है - प्रकृत में शब्द की अभिव्यक्ति, वह नहीं होनें पर अव्यक्त आन्तरशब्द का ज्ञान कभी किसी को नहीं होता है। अतः सिद्धान्ततः नित्यशब्दवादी ध्वनि अभिव्यक्तिवादी वैयाकरणों के मत में श्रोत्रेन्द्रिय और उसका विषय-शब्द दोनों का संस्कार ध्वनि से होता है।

21.10 वाक्यपदीय के अनुसार–स्फोट एवं ध्वनि में व्यङ्ग्य–व्यञ्जकभाव का समन्वय

समान अधिकरण (देश) में स्थित घट और दीपक का परस्पर व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव देखे जाते हैं न कि अन्य देश में स्थित घट एवं दीपक का अर्थात् अन्य घर में स्थित दीपक के द्वारा किसी अन्य घर में स्थित घट की अभिव्यक्ति (दर्शन-ज्ञान) नहीं होता अतः दोनों भिन्न स्थान वालों में परस्पर व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव नहीं होता है ऐसे ही तालु ओष्ठ आदि व्यापार से प्रकाश्यमान श्रोतदेश में स्थित ध्वनि के द्वारा हृदय देश में स्थित शब्द का अभिव्यङ्ग्य होना अर्थात् ध्वनि एवं स्फोटशब्द में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव होना कैसे संभव है, इस जिज्ञासा के समाधान में वाक्यपदीयकार दोनों में व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव का उपपादन करते हुए कहते हैं कि –

देशादिभिश्च सम्बन्धो दृष्टः कायवतामिह ।
देशभेदविकल्पेऽपि न भेदो ध्वनिशब्दयोः[14] ।।

अर्थात् **इह=** इस लोक में **कायवताम्=** विग्रहधारी (मूर्त्तिमान, मूर्तस्वरूप वाला) वस्तुओं का देश विशेष से सम्बन्ध देखा गया है विग्रहरहित अमूर्त वस्तु का नहीं । शब्द और ध्वनि अमूर्त है, इसका देशभेद मान लेने पर भी इनका वास्तविकदेश भेद नहीं है अपितु दोनों का एक ही आकाशदेश है । यदि हृदयाकाश से श्रोत्राकाश को भिन्न भी मानें फिर भी इनका देशभेद नहीं होता क्योंकि ध्वनि श्रोत्रदेश से हृदयदेश में पहुँच जाता है । अतः एक ही देश में वर्तमान होने से दोनों का व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव उपपन्न होता है ।

अभिप्राय यह है कि – जो परिमित सावयव मूर्तवस्तु है, उसका किसी देश विशेष से सम्बन्ध होता है । समानदेश में वर्तमान वस्तुओं का समानाधिकरण व्यवहार होता है, भिन्नदेशस्थ वस्तुओं का व्यधिकरण व्यवहार होता है, क्योंकि वस्तु जब किसी एकदेश में रहता है तो दूसरे देश में नहीं रहता । घट और प्रदीप आदि मूर्तवस्तु है, उनका समान अधिकरण होने पर व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव-प्रकाश्य-प्रकाशकभाव होता है भिन्न अधिकरण होने पर नहीं होता । किन्तु ध्वनि और शब्द दोनों अमूर्त अपरिच्छिन्न वस्तु है, इनका किसी देश विशेष से सम्बन्ध ही नहीं होता ऐसी स्थिति में उनका एक अधिकरण अथवा भिन्न अधिकरण में सम्बन्ध की चर्चा ही अनुपपन्न है, उनका वैयधिकरण्य मानकर व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव शङ्का ही निर्मूल है । हॉ, स्थूलदृष्टि से दोनों का हृदय तथा श्रोत्र रूप देश भेद मान लिया जाय तब भी श्रोत्र देश में स्थित ध्वनि बीचितरङ्गन्याय से देशान्तर में गमनशील होनें से हृदयदेश में पहुँचकर समानाधिकरण हो जाता है जिससे घट और प्रदीप के समान उनका व्यङ्ग्यव्ञ्जकभाव सम्पन्न होता है ।

वस्तुतः ध्वनि से आन्तरशब्द की अभिव्यक्ति प्रतिबिम्बाधान रूप है, प्रदीप घट के समान नहीं । बिम्बप्रतिबिम्बभावरूप व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव तो भिन्नदेशस्थ का भी होता है । अतिदूरस्थ-सूर्य-चन्द्र-मण्डल नदी-तालाब, कूप आदि नाना अधिकरणों में प्रतिबिम्बरूप में अभिव्यक्ति होती है तथा सागर अथवा जलाशय रूप एक अधिकरण में सुदूरवर्ती अपरिगणित ध्वनि यदि स्फोट रूप एक आन्तर शब्द में प्रतिबिम्बित होकर अपने से स्फोटात्मक शब्द की अभिव्यक्ति करते हैं तो कोई अनुपपति नहीं है ।

---

[14]. ब्र. काण्ड 97

21.11 वाक्यपदीय में वर्णित शब्द विषयक विभिन्न मत

शब्द स्वरूप के विषय में विद्वानों में मतभेद है। इस मतभेद का कारण है शब्द की प्रतीति में होने वाले कारण को अलग-अलग मानना। कारण में भेद होनें के कारण वैखरी शब्द का स्वरूप भी अलग-अलग माना जाता है। अतः शब्द के विषय में प्रसिद्ध मतों का उल्लेख करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं –

वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।
कैश्चिद्दर्शनभेदो हि प्रवादेष्वनवस्थितिः[15]॥

अर्थात् कोई आचार्य शब्द को वायु का परिणाम मानते है, कोई अणु का परिणाम तो कोई ज्ञान का परिणाम। किसी के मत विशेष में कोई स्थिरता वा सीमा नियत न होनें से दर्शनों का यह मतभेद है। तात्पर्य है कि उपादानकारण और कार्य का अभेद होनें से जिनके मत में वैखरी शब्द का कारण वक्ता का **प्राणवायु** है - उनके मत में **शब्द वायुरूप** है। जिसके मत में शब्द का कारण **अणुरूप सूक्ष्म** शब्द है – उनके मत में **शब्द अणुरूप** है एवं जिनके मत में शब्द का कारण **वक्ता का ज्ञान** है – उनके मत में **शब्द ज्ञान रूप** है। इस प्रकार प्रवक्ता की अपनी-अपनी अभिरुचि के विकल्पमूलक होनें से दर्शन के भेद से शब्दविषयक मत भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं, विशेषतः उपर्युक्त तीन मत (1) शब्द वायुरूप है, (2) शब्द अणुरूप है, (3) शब्द ज्ञानरूप है। वाक्यपदीय में विशेष रूप से विवेचनीय है –

(1) **शब्द वायुरूप है**–वायु के शब्दस्वरूप होने के विषय में उसकी प्रक्रिया बताते हुए भर्तृहरि कहते है –

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना।
स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते[16]॥

अर्थात् वक्ता की इच्छा के अनुरूप होने वाले प्रयत्न से प्रेरणा कर स्पन्दित एवं कण्ठतालु आदि तत्तत् स्थानों में अभिहत वायु शब्दस्वरूप को ग्रहण कर लेता है, अर्थात् वायु शब्दरूप में परिणत हो जाता है।

तात्पर्य है कि वक्ता लोक में जिस अर्थ का बोध करना चाहता है, वह उस अर्थ के वाचक शब्द का प्रयोग करना चाहता है, उस इच्छा से उसका प्रयत्न भी वैसा ही होता जिससे विवक्षित शब्द ही प्रकट हो अन्य नहीं। अतः उसके प्रयत्न विशेष से अपेक्षितमात्रा में उत्पन्न वायु उपर उठकर वर्ण विशेष के जन्म के कारण तत्तत् स्थानों में टकराता है, जिससे वायु विवक्षित वर्णात्मक व्यक्त शब्दरूप में परिणत हो जाता है इस प्रक्रिया के अनुसार **वायु का परिणाम शब्द वायुरूप है। यह मत विशेषतः शिक्षाकार** नैयायिक-वैशेषिकों का है किन्तु स्फोट से भिन्न उसका व्यञ्जक प्राकृतध्वनिरूप वैखरी के विषय में वैयाकरणों को भी अभिमत है- नित्यशब्द स्फोट के विषय में नहीं। विभिन्न प्रयत्नरूप कारणों के सामर्थ्य से वेग और प्रचय (घनीभाव) स्वभाववाला वायु एक होने पर भी कण्ठतालु आदि स्थानों में अभिहत होने के कारण क ख आदि सारभूत वर्णरूप में स्थान भेद से परस्पर विभक्त हो जाती है। अर्थात् वायु का एक घनीभूत रूप भी नाना स्थानों में विभक्त होकर मूर्त रूप में अनेक वर्णरूप हो जाता है जो एक दूसरे से भिन्न है। इस प्रकार एक ही वायु की नाना वर्णरूप परिणाम की प्रक्रिया होती है।

---

15. ब्र. काण्ड 108

16. ब्र. काण्ड 109

(2) द्वितीय मत के अनुसार शब्द अणुओं का परिणाम है जिसके स्वरूप एवं प्रक्रिया को बताते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः ।
छायाऽऽतपतमः शब्दभावेन परिणामिनः[17] ।।

विभाग एवं संयोग धर्म से युक्त अणुओं में सभी प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करने वाली एक शक्ति है जो विभक्त होनें पर छाया, आतप और अंधकार के रूप में तथा संयुक्त होनें पर शब्द रूप में परिणत हो जाती है। अतः शब्द अणु का परिणाम है।

अभिप्राय यह है कि – वक्ता के हृदयाकाश में अथवा बाह्य महाकाश में जो शब्द अत्यन्त सूक्ष्मतम रूप में विद्यमान रहता है, वे ही वक्ता के विवक्षाप्रयत्न आदि निमित्तविशेष की प्रेरणा से संयुक्त वा संचित होकर स्थूलरूप धारण कर परस्पर विरोधी छाया-आतप्-तमस् आदि के रूप में विभिन्न शब्दरूपों में परिणत हो जाता है, जो कान से सुना जाने योग्य एवं बाह्य वैखरी शब्दरूप में कहे जाते हैं। यद्यपि कारण रूप वह सूक्ष्म अणु शब्द एकजातीय होता है तथापि उसमें पृथक् विलक्षण कार्यों की उत्पत्ति करने की सर्वविध शक्ति रहने से विरुद्धार्थ भी तत्तत् सभी शब्दों के रूप में परिणत हो जाता है और विवक्षा प्रयत्न आदि के नहीं होने पर पुनः क्रमशः स्थूल प्रचित शब्द अणुरूप सूक्ष्म हो जाता है। यह **सूक्ष्मतम शब्द** ही यहाँ अणु शब्द से विवक्षित है न कि न्यायशास्त्र परिभाषित परमाणु अथवा सांख्य परिभाषित तन्मात्राएँ। शब्द परक प्रकरण होने से शब्द विषयक अणुरूप और उसी का स्थूल रूप यहाँ ग्राह्य है। यह मत विशेष रूप में जैन मतानुनायियों के द्वारा स्वीकृत है।

अणु के शब्दरूप परिणाम होने की प्रक्रिया बताते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि–

स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः ।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः[18] ।।

अर्थात् जब कोई किसी अर्थ को बताने की इच्छा करता हैं, उस इच्छा से होनें वाले शब्द प्रयोग की इच्छा से आन्तरिक प्रयत्न से प्रेरित होकर अनुरूप सूक्ष्मशब्द अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति होने पर उन उन स्थूल वर्ण के रूप में वैसे ही एकत्रित हो जाता है जैसे वर्षाकाल में परमाणुरूप मेघ एकत्रित हो जाता है।

(3) **शब्द ज्ञानरूप है** अर्थात् शब्द का कारण वक्ता का ज्ञान है, इस तृतीयमत का उपपादन करते हुए कहते हैं कि –

अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम् ।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते[19] ।।

अर्थात् – यह अर्थविषयक आन्तरज्ञान जो कि सूक्ष्मरूप से अन्तःकरण में विद्यमान रहता है अपने रूप को बाहर प्रकट करने के लिए स्थूलशब्दरूप हो जाता है।

तात्पर्य है कि यथार्थ ज्ञान वाला आप्तवक्ता पुरुष अपने हृदय में विद्यमान उस ज्ञान को जब दूसरों को प्रकट करना चाहता है तब वह शब्द का प्रयोग करना चाहता है उस आप्त वक्ता का जो ज्ञान है वह एक ओर जहाँ अर्थविषयक होनें से अर्थस्वरूप है, दूसरी ओर वह ज्ञान अर्थवाचक शब्द विषयक होने से सूक्ष्म शब्दस्वरूप भी है। फलतः **शब्द, अर्थ और ज्ञान** ये तीनों परस्पर अभिन्नरूप है,

---

17. ब्र. काण्ड 111

18. ब्र. काण्ड 112

19. ब्र. काण्ड 113

परस्पर तादात्म्यापन्न है। यहाँ तक कि विशेषण, विशेष्य और उनके संसर्ग से शून्य जो निर्विकल्पक ज्ञान है वे भी शब्दविषयक शब्दात्मक होते हैं, तभी तो व्यवसायात्मक घटज्ञान और पटज्ञान का शब्दभेद से परस्पर भेद सिद्ध होता है। ज्ञान को शब्दात्मक माने विना ज्ञान का परस्पर भेद हो ही नहीं सकता है। अतः जगत् के स्रष्टा परमात्मा अथवा आप्त वक्ता के हृदय में विद्यमान जो अर्थविषयक सूक्ष्मशब्दात्मक ज्ञान है वही जगत् की सिसृक्षादशा में अथवा आप्त पुरुष की विवक्षादशा में प्रयत्न आदि निमित्त बल से तत्तद् अर्थ से अभिन्न स्थूलरूप बाह्य शब्द का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। यह सूक्ष्म आन्तरज्ञान का बाह्य स्थूल शब्दरूप ग्रहण होना ही **"अतात्विक अन्यथाभावरूप"** विवर्त है। **"आख्यातोपयोगे"** इस सूत्र के भाष्य से संमत यह ज्ञान का शब्दभाव ही वैयाकरणों का इष्टतम सिद्धान्त है। अतः वैयाकरणों के मत में **ज्ञान ही शब्द है** अर्थात् शब्द ज्ञानरूप है।

इस सूक्ष्मशब्दरूप ज्ञान का स्थूलशब्दस्वरूप ग्रहण करने की प्रक्रिया इस प्रकार है –

स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्य्यते[20]॥

अर्थात् वह ज्ञान रूप सूक्ष्म शब्द विवक्षा संकल्परूप में मन का स्वरूप ग्रहण करके जठराग्नि के तेज से स्थूल शब्दरूप ग्रहण की परिपाकावस्था को प्राप्त कर प्राणवायु में समाविष्ट हो जाता है, इसके अनन्तर वह कण्ठस्थान से ऊपर मूर्ध आदि स्थानों में पहुँचकर शब्दरूप ग्रहण कर उच्चारित होकर बाहर प्रकट होता है जोकि श्रोताओं के द्वारा सुना जाता है। यह प्रक्रिया **आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान् मनो युक्ते विवक्षया इत्यादिपाणिनिदिशा** संमत है।

इस प्रकार उपर्युक्त तीनों मतों में तृतीयमत वैयाकरणसिद्धान्तित मत है।

21.12 वाक्यपदीय में वर्णित वैयाकरणसिद्धान्तानुसार शब्द की व्यापकता -

सभी प्रकार के पदार्थ और सर्वविधज्ञान शब्द से अनुगत है। अर्थात् प्राणी के समस्त ज्ञान शब्द से जुड़े हुए है, ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो विना शब्द के अनुगम (शब्दविषयक ज्ञान के विना) होता है। इस प्रकार शब्द की व्यापकता के विषय मे आचार्य भर्तृहरि का कथन है कि –

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

अर्थात् **लोके =** व्यवहार में, ऐसा कोई **प्रत्यय-**ज्ञान नहीं है जो शब्द के विना हो अर्थात् जिसका विषय शब्द न हो अथवा शब्द को विषय नहीं बनाता हो सभी ज्ञान शब्द से विधा हुआ (मिला हुआ) सा भासित होता है।

तात्पर्य यह है कि जैसे माला में मणि या पुष्प आदि धागे से गुथे या धागे से पिरोये ग्रन्थि के रूप में एकाकार भासित होता है अथवा व्यञ्जन वर्णो में स्वर मिलकर एकाकार प्रतीत होता है उसी प्रकार व्यवहार काल में "प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द ज्ञान" सभी शब्द से अनुगत व अनुविद्ध प्रतीत होता है। शब्द से रहित केवल ज्ञान व्यवहार योग्य नहीं होता है। चक्षु आदि इन्द्रिय का घट-पट आदि विषय से सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होनें पर घट पट इत्याकारक वस्तु मात्र का जो ज्ञान किसी को होता है वह ज्ञान स्वयं के अनुभूति का विषय होता है, वह परसंवेद्य (दूसरे के लिए जानने योग्य) नहीं होता क्योंकि वह किसी शब्द विशेष से लोक व्यवहार योग्य नहीं है, वह अव्यपदेश्य एवं निर्विकल्पक

[20]. ब्र. काण्ड 114

होता है। यद्यपि यही वस्तुस्थिति है तथापि वक्ता को प्राथमिक जो घट-पट इत्याकारक वस्तुमात्र का ज्ञान होता है, वह भी अव्यक्त-अनाख्येय-सूक्ष्म रूप से संवलित व सम्बन्ध ही रहता है क्योंकि ज्ञान का आकार – प्रकार घट – पट आदि सूक्ष्म अव्यक्त शब्द रूप ही है। यदि ऐसा नहीं हो अर्थात् उसमें सूक्ष्म रूप से शब्द का रूप अनुप्रविष्ट नहीं हो तो घट से पट का, पट से घट का ज्ञान जो अलग – विलक्षण माना जाता है वह शब्द का भेद विषय के विना कैसे होगा। अतः यह मानना होगा कि वक्ता का जो इन्द्रियसन्निकर्ष जन्य प्राथमिक विभिन्न अर्थज्ञान होता है, जोकि अव्यपदेश्य – अनाख्येय निर्विकल्पक रूप है वह भी सूक्ष्म – अव्यक्त शब्द से मिश्रित होनें से ही घट-पट शब्द से अलग होता है और वक्ता के द्वारा वह शब्दानुगम ज्ञान जब दूसरे के लिए प्रयुक्त होता है तब वह ज्ञान सक्रम एवं व्यक्त शब्द से अनुबिद्ध रहता है। दोनों में इतना अन्तर अवश्य होता है कि दूसरों को शब्द से उपदेशित ज्ञान सक्रम व्यक्त शब्द से अनुविद्ध रहता है, जबकि वक्ता का स्वसंवेद्य प्राथमिक ज्ञान अव्यक्तरूप में सूक्ष्म शब्द रूप से संवलित एकात्मक रहता है वहाँ भेद ज्ञान नहीं रहता है। व्यपदेश्य सविकल्पक ज्ञान में शब्द का भेद भी परिलक्षित होता है।

अतः निष्कर्ष है कि निर्विकल्पक या सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान तथा अनुमान, उपमान, शाब्द सभी ज्ञान शब्द से अनुविद्ध होते हैं।

21.13व्याकरण मोक्ष का साधन –

सर्वं शब्देन **भासते–**सभी पदार्थ, जड़ – चेतन – जीव – ब्रह्म सभी शब्द के द्वारा ही भासित होता है, सभी का अस्तित्व बोधक **शब्द** ही है, सभी में शब्दमिश्रित है और व्यकारण साध्य शब्द संस्कार से शुद्ध अखण्ड शब्द का ज्ञान, अन्तःकरण में स्वयं ज्योतिस्वरूपब्रह्म के साथ अभेदभावना से भेदग्रन्थि का उच्छेद कराकर तादात्म्यरूप सायुज्य (मोक्ष) प्राप्ति कराने का साधन **व्याकरण** है, इसे आचार्य भर्तृहरि ने निम्नकारिका के द्वारा स्पष्ट किया है –

तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते[21] **॥**

अर्थात् **तस्मात्** शब्द का ब्रह्मात्मरूप होनें के कारण **यः शब्दसंस्कारः साधु–** असाधु – शब्द में, ध्वनि स्फोट में विवेक के द्वारा शुद्धशब्द की भावना अर्थात् आत्मारूप शुद्ध परब्रह्म परस्वरूप निश्चय तथा परमात्मा की प्राप्ति का उपाय (साधन) **शब्दसंस्कार** है जो व्याकरणसाध्य है। अतः व्याकरण मोक्ष का साधन है।

तात्पर्य है कि शब्द ब्रह्मात्मरूप है और उस शब्द का संस्कार कराने वाला व्याकरण सिद्ध रूप है, यही व्याकरण उस परमात्मा नित्य शब्दब्रह्म की सिद्धि का उपाय है। एवं उसकी प्रवृत्ति को जानने वाला ही अमृतब्रह्म को प्राप्त करता है।

व्याकरण शास्त्र द्वारा शब्दव्युत्पत्ति की प्रक्रिया के ज्ञान से जो विवेक ज्ञान प्राप्त कर साधुशब्दों का ही प्रयोग करता है तज्जन्य पुण्य से उस वक्ता का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है जिसके माध्यम से वह वक्ता अपने निर्मल अन्तःकरण में वैखरीवाक् स्वरूप से अतिरिक्त अखण्ड शुद्ध शब्द ब्रह्म का आत्मारूप में प्रत्यक्षदर्शन करता है तथा उसके सभी व्यवहारिक भेदज्ञान मिट जाते हैं, अन्ततः वह अमृतत्व की प्राप्ति कर ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है। अतः व्याकरण मोक्ष करा ने वाला साधन है।

---

[21]. ब्र.काण्ड 133

21.14 वाक्यपदीय के अनुसार शास्त्र की सार्थकता में प्रमाण –

श्रुति (वेद) स्मृति आदि में प्रतिपादित धर्म का ज्ञान आचारपरम्परा से लोक में सम्भव है इसके लिए शास्त्र आवश्यक नहीं है, ऐसे भी कपिल आदि मुनि हुए हैं जो जन्म से ही ज्ञानवान् हुए वे धर्म अधर्म निर्णय में स्वतः प्रमाण हैं, उनके लिए भी शास्त्रों की परमावश्यकता नहीं है, इस प्रकार की आशङ्का को ध्यान में रखते हुए शास्त्र की सार्थकता सिद्ध करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं–

ज्ञाने स्वाभाविके नार्थः शास्त्रैः कश्चन विद्यते।
धर्मो ज्ञानस्य हेतुश्चेत्तत्राम्नायो निबन्धनम्[22] ।।

अर्थात् जन्मकाल से ही स्वाभाविक ज्ञान वाले पुरुष विशेष के लिए यद्यपि शास्त्रों का कोई प्रयोजन इस जन्म में नहीं है तथापि उस स्वाभाविक ज्ञान का कारण यदि पूर्वजन्म के धर्मविशेष को माना जाय, तब भी ज्ञान कारण वाले उस धर्म का उपदेश करने वाला वेदमूलक शास्त्र ही होगा, क्योंकि शास्त्र से ही धर्म का अनुशासन होता है। अत एव पूर्वकृत धर्मजन्य स्वाभाविक ज्ञान में भी परम्परा कारण वेदमूलक शास्त्र ही सिद्ध होता है और साधारण लोगों के ज्ञान का तो एकमात्र शास्त्र ही उपाय है। अतः शास्त्र की सार्थकता तो सिद्ध ही है। साक्षात् या परम्परा सबको समानरूप में शास्त्र की आवश्यकता है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य होगा कि – स्वाभाविक ज्ञान का हेतु पूर्वकृत धर्म ही निमित्त है अतः स्वाभाविक ज्ञानी को आधुनिक स्मृतिशास्त्र की अपेक्षा नहीं, किन्तु जनसाधारण को तो श्रुति-स्मृति उभयविधशास्त्र की आवश्यकता है। शिष्टों का आचार तो शास्त्र का ज्ञापक मात्र है। सदाचार शास्त्र का पोषक प्रमाण है। सदाचार से अनुपलब्ध मूलभूत शास्त्र का ही अनुमान होता है। अतः शास्त्र की सार्थकता सदा रहती है।

21.15 वेदमूलक अनादि-आगम व्याकरण का प्रामाण्य –

स्मृति आदि धर्म में प्रमाण होनें पर भी व्याकरण की प्रामाणिकता कैसे? साथ ही इसे धर्ममूलक कैसे स्वीकार किया जा सकता है, इस आशंका को ध्यान में रखकर वाक्यपदीयकार, समाधान करते हैं –

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः।
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्[23] ।।

अर्थात् यह व्याकरण भी स्मृति ही है जिसका विषय शब्दों के साधुत्व का ज्ञान कराना है, प्राचीन शिष्ट आचार्यों से अनादि परम्परा से चली आ रही व्याकरण परम्परा का स्मरण करते हुए पाणिनीयव्याकरणस्मृति की रचना है। अतः अविच्छिन्न (निरन्तर) परम्परामूलक होनें से यह व्याकरण अनादि है आगम है एवं सर्वथा प्रमाण है।

तात्पर्य है कि – प्रकृतिप्रत्यय के व्युत्पादन द्वारा शब्द के साधुत्व का निर्वचन व्याकरण का मुख्यलक्ष्य है। अर्थविशेष में शब्दविशेष के साधुत्व का निरूपण पाणिनीय व्याकरण में हीं सर्वप्रथम नहीं हुआ है अपितु इसके पूर्व से ही अनादिपरम्परा से उपनिबद्ध अन्य व्याकरण भी प्रवर्तित होते रहे हैं साथ ही शिष्टों के साधुशब्द प्रयोग की अविच्छिन्न परम्परा से पूर्वव्याकरण स्वरूप का अनुगम कर अपूर्व अपनी प्रतिभा से आचार्य पाणिनि ने सकल लक्ष्य का संग्राहक अद्भुत् अष्टाध्यायी नामक व्याकरणस्मृति का निबन्धन किया है। अतः यह भी स्मृति है और वेदमूलक होनें के कारण प्रमाण है

[22].ब्र. काण्ड 136
[23].ब्र. काण्ड 143

। जैसा कि भाष्यकार ने भी कहा है - **लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः** और भी, वेदवाक्यों का अन्वाख्यान परक होने से वेदाङ्गों में मुख्य अङ्ग मुख, व्याकरण को कहा ही गया है । वर्णसमाम्नायमूल बाले इस व्याकरण का साक्षात् प्रामाण्य ही नहीं अपितु इसे प्रमाणों का भी प्रमाण कहा जाता है ।

21.16 शब्द का जगत्कारणत्व के विषय में आचार्य भर्तृहरि का मत-

वाक्यपदीयकार ने **अनादिनिधनं ब्रह्म यतः सर्वं स्फोटरूपं जगदेतद्ववर्तते** इस प्रतिज्ञावाक्य के द्वारा शब्द ब्रह्म को जगत् का कारण बताया इस विषय में विभिन्न मतों की समीक्षा करके अन्ततः अपने प्रतिज्ञा सिद्धान्त को प्रस्तुत कारिका द्वारा सिद्ध करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि-

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धिनी ।
यन्नेभः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते[24] **।।**

अर्थात् नामरूपात्मक दृश्यमान इस प्रत्यक्ष जगत् के जन्म आदि की बीजशक्ति आन्तर (त्रिविध) सूक्ष्म शब्दों में ही अधिष्ठित है, जिससे प्रणीत व उद्भावित (प्रकाशित) यह अनादिवासनामूलक भेदस्वरूप अर्थव्यवहार प्रतीत (अनुभव) का विषय होता है,वस्तुतः भेद नहीं है ।

तात्पर्य कि मूल नाभि और हृदय देश में स्थिति क्रमशः परा पश्यन्ती मध्यमा नामक त्रिविध सूक्ष्म शब्दों में विवर्तनामरूप वह शक्ति है जिससे वे सूक्ष्मशब्द घट,पट आदि विभिन्न अनेक स्थूल शब्दों और अर्थों के रूप में विवर्तित होकर जगत् के प्रमाता प्रमाण एवं प्रमेयरूप भेदव्यवहार का कारण होते हैं, यह भेद व्यवहार अनादि जगत् में प्रवाहरूप से पूर्वपूर्व अनुभवजन्य वासना से प्रवर्तित होता आ रहा है ।

निष्कर्ष यह है कि - अक्रम अखण्ड ज्ञानरूप शब्दब्रह्म जगत् का अधिष्ठान तत्व है, अर्थात् वह जगद्विवर्त का उपादान कारण है । घकार, टकार आदि वर्णों का भेद तथा अनेक क्रमभेद के घट, पट आदि पदों का भेद व वाक्यभेद और उनका अर्थभेद ये सभी शब्द की विवर्तनारूप विक्षेपशक्ति से भासित होते हैं, वस्तुतः भेदों की यथार्थ सत्ता नहीं है, एक अद्वितीय ब्रह्मरूप शब्द ही परमार्थ तत्त्व है ।।

21.17 निर्विकल्प ज्ञान (शब्द का विषय वने ज्ञान) के व्यवहार योग्य नहीं होनें में भर्तृहरि का मत –

शब्द से अनुगत हुए विना ज्ञान कभी व्यवहार योग्य नहीं होता है इसे सिद्ध करते हुए आचार्य भर्तृहर का कथन है कि –

वाग् रूपता चेदु त्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ।।

अर्थात् विषय के आकार से निश्चित स्वरूप वाले यह घट है, यह पट है इस प्रकार का जो सविकल्प ज्ञान है, उसमें अविच्छिन्न नित्यस्वरूप भूत जो शब्दरूपता है, वह यदि ज्ञान में उड़कर कहीं चली जाय या लुप्त हो जाय तो प्रकाशरूप जो ज्ञान है वह वाग्रूपता के विना अर्थात् शब्द से विषय का प्रकाश हुए विना, विषयहीन ज्ञान व्यवहार में कभी प्रकाशित नहीं हो सकेगा क्योंकि ज्ञान की वह

[24]. .ब्र. काण्ड 119

शब्दरूपता ही विषय के उपस्थापन और अवधारण के द्वारा ज्ञान के नियतस्वरूपता को बताती है। अतः शब्द रूपता के विना ज्ञान व्यवहारयोग्य नहीं है।

तात्पर्य है कि जैसे तृण काष्ठ आदि इन्धन के सन्निधान में ही अग्नि का दाहकत्व के साथ प्रकाशकत्व स्वरूप पाया जाता है, अथवा यह कहा जाय कि अग्नि का दाहकत्व और प्रकाशकत्व ये दोनों समन्वित रूप हैं ऐसे ही ज्ञान का शब्दरूपत्व और प्रकाशकत्व ये दोनों समन्वित तथा समनियत स्वरूप है।

जैसे अन्तर्यामी रूप में अग्नि विश्व में सर्वत्र अन्तगर्भित रहने पर भी इन्धन से संयोग के विना दाहकार्य के अभाव में प्रकाश नहीं होनें से व्यवहार का विषय नहीं होता है, ऐसे ही अन्तर्यामी रूप में ज्ञान अन्तःकरण में विद्यमान रहने पर भी शब्द के विना अर्थ की उपस्थिति के अभाव में बाहर प्रकाशित नहीं होनें से व्यवहार योग्य नहीं होता है। लोकव्यवहार में तो शब्द के ज्ञान व्यवहार काल में सविकल्पकरूप है जो कि आख्येय तथा व्यपदेश्य है। वस्तुतः वैयाकरण मत में आन्तरनिर्विकल्पक ज्ञान भी नियमतः सूक्ष्म स्वप्रकाश शब्दरूप ही रहता है।

21.18 वाक्यपदीयकार के मत में प्रमाण -

वाक्यपदीय में प्रमाणविषयक विवेचन के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि वाक्यपदीयकार – प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द (आगम) अभ्यास और अदृष्ट ये 5 (पाँच) प्रमाण मानते हैं।

1. **प्रत्यक्ष–**भर्तृहरि के अनुसार प्रत्यक्ष दो प्रकार का है (1) लौकिक (2) अलौकिक। लौकिक – प्रत्यक्ष जन-सामान्य का है और अलौकिक प्रत्यक्ष ऋषियों का जो विना इन्द्रिय की सहायता से ही होता है जिसे लोक उसे अपने प्रत्यक्ष से कम नहीं समझते हैं।

इस विषय में आचार्य भर्तृहरि कहते हैं –

यो यस्य स्वमिव ज्ञानं दर्शनं नाभिशङ्कते।
स्थितं प्रत्यक्षपक्षे तं कथमन्यो निवर्तयेत्॥

अर्थात् जो स्वयं द्रष्टा अपने प्रत्यक्ष ज्ञान की सत्यता के समान ही दूसरे किसी द्रष्टा के भी प्रत्यक्ष ज्ञान की सत्यता में कोई सन्देह नहीं करता है। उसे सत्य ही मानता है।

(2) **अनुमान –** प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण कि सिद्धि के लिए वाक्यपदीयकार ने विशेष उपाय तो नहीं बताया है किन्तु उसका खण्डन भी नहीं किया है। अतः **अप्रितिषिद्धं ह्यनुमतं भवति**इस न्याय के अनुसार अनुमान प्रमाण भी अभीष्ट प्रतीत होता है।

(3) **शब्द – (आगम)–** आचार्य भर्तृहरि के अनुसार आगम (शब्द) सभी प्रमाणों में श्रेष्ठ है। साधु-असाधु के प्रयोग विषयक धर्म-अधर्म के निर्णय में आगम ही प्रमाण है, आगम निरपेक्ष केवल तर्क नहीं। इसी को अपनी कारिका के द्वारा स्पष्ट करते हुए आचार्य भर्तृहरि कहते है –

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्जज्ञानं तदाप्यागमहेतुकम्॥

अर्थात् आगम प्रमाण के बिना केवल तर्क के द्वारा धर्मविषयक निर्णय नहीं हो सकता है। ऋषियों का भी सूक्ष्म धर्म आदि विषयक जो ज्ञान है, वह भी आगमप्रमाण मूलक है। अतः धर्माधर्म निर्णय के लिए भी आगम ही प्रमाण है। इस प्रकार इनके मत में आगम प्रमाण की प्रधानता है।

(4) **अभ्यास –** भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के 35 वीं कारिका में अभ्यास नाम के प्रमाण की चर्चा करते हुए कहा कि – जो मणि आदि के मूल्य के तारतम्य का ज्ञान है वह दूसरों को बताया नहीं जा सकता किन्तु अभ्यास से ही होता है कि इन्हें अभ्यास प्रमाण भी स्वीकृत है।

(5) **अदृष्ट –** वाक्यपदीय की 36 वीं कारिका के आधार पर अदृष्ट प्रमाण की भी चर्चा की गई है । प्रेत अथवा पितर भीत से विना छिद्र बनाये हाथ बाहर निकाल देते है ये सिद्धियाँ अदृष्ट जन्य ही है। भर्तृहरि का कथन है –

प्रत्यक्षमनुमानञ्च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः ।
रक्षःपितृपिशाचानां कर्म्मान्ता एव सिद्धयः ।।

अर्थात् अलौकिक जो लौकिकप्रत्यक्ष और अनुमान से न जानने योग्य लोक में प्रसिद्ध पितर, राक्षस और पिशाच आदि की सिद्धियाँ कर्माधीन होती हैं, इस प्रकार का आर्ष ज्ञान तप के द्वारा उत्पन्न अदृष्ट से जन्य है। अतः यह तर्कजन्य नहीं हैं।

इस प्रकार वाक्यपदीय में प्रमाण के रूप में उक्त 5 प्रमाण को स्वीकार किया जा सकता है।

21.19 पारिभाषिक शब्दावली

1. **विवर्त-** अतत्वतोऽन्य प्रथा विवर्त – यथा
   अवास्तविक अन्यथाभाव होना अर्थात् जो नहीं है उसे उस रूप में समझना ही विवर्त है जैसे रस्सी को साँप समझना। वस्तुतः रस्सी है सर्प नहीं किन्तु उसे सर्प समझना विवर्त होता है।
2. **परिणाम –** स तत्वतोऽन्यथा प्रथा विकारः (परिणाम) दुग्ध (दूध) का दही रूप में परिवर्तन होत है।
3. **भाव –** प्रकृति में होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया।
4. **वर्त्म** – मार्ग – पद्धति - रास्ता।
5. **व्याकरणम् –** व्याक्रियन्ते = व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेन, जिसके द्वारा शब्द की व्युत्पत्ति (विशेष ज्ञान) किया जावे तादृश ग्रन्थ विशेष।
6. **अपोद्धारपदार्थ–** पदार्थाद् अपोध्रियन्ते विभज्यन्ते इति अपोद्धाराः प्रकृति- प्रत्यानाम् अर्थाः प्रकृत्यर्थ एवं प्रत्ययार्थ को अपोद्धारपदार्थ कहा जाता है।
7. **स्थितलक्षण –** पदार्थ एवं वाक्यार्थ, अर्थ विशेष में स्थित रहने वाले पद एवं वाक्य को स्थित लक्षण कहा जाता है।
8. **अन्वाख्येयः प्रतिपादक–** शब्द का द्विविध भेद।
9. **कार्यकारण भाव एवं योग्यता–** शब्द का द्विविध सम्बन्ध।

21.20 अभ्यासार्थ प्रश्न –

प्र.सं 1. वाक्यपदीयम् के रचनाकार कौन हैं ?

प्र.सं 2. वाक्यपदीयम् कितने काण्डों में विभक्त है ? कृपया नाम लिखिए ?

प्र.सं 3. अधोलिखित कारिका की व्याख्या किजिए -

अनादिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरं।
विवर्ततोऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः ।।

प्र.सं 5. वाक्यपदीयम् के अनुसार विवर्तवाद को समझाइये ?

प्र.सं 6. शब्दार्थ सम्बन्ध पर एक लेख लिखिए ?

प्र.सं 7. वाक्यपदीयम् के अनुसार व्याकरण के नियमों का वर्णन किजिए ?

21.21 सारांश –

वाक्यपदीय ब्रह्मकाण में प्रतिपादित विषयों के आधार पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि व्याकरण के मत में शब्द को ब्रह्म के रूप में माना गया है, जिसे स्फोटब्रह्म की संज्ञा दी गई है, यह स्फोटात्मक शब्द ब्रह्म अक्षर, जगत् का कारण नित्य और एक ही है जो व्यावहारिक प्रक्रिया में विभिन्न वर्ण-पद एवं वाक्य के रूप में प्रकाशित होकर समस्त अर्थ को प्रकाशित करता है, जिसके स्वरूप को अर्थात् शब्दे के यथार्थ रूप को जानकर अज्ञान के उस ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त किया जा सकता है।

इस ब्रह्म की प्राप्ति का साधन व्याकरण है। इस व्याकरण अध्ययन के मुख्य 5 (पांच) प्रयोजन है, रक्षा-ऊह-आगम- लघु और असन्देह इसके साथ ही परम प्रयोजन मोक्ष प्राप्ति है। व्याकरण के अनुसार शब्द भी नित्य है, अर्थ भी नित्य है एवं दोनों का परस्पर सम्बन्ध भी नित्य माना गया है। इस शब्द में ग्राह्यत्व एवं ग्राहकत्व नाम की दो शक्ति है जिससे शब्द का अपना स्वरूप एवं अर्थ दोनों ही प्रकाशित होता है। इस नित्य में शब्द में काल एवं वृत्ति भेद की प्रतीति औपाधिकमात्र है। इस शब्द का व्यञ्जक ध्वनि है। यह ध्वनि प्राकृत एवं वैकृत भेद से दो प्रकार का होता है स्फोट के ग्रहण में प्राकृत ध्वनि कारण होता है, वैकृत ध्वनि कण्ठताल्वादि के अभिघात से उत्पन्न होकर परश्रवण गोचर होता है। इस प्रकार शब्द एवं ध्वनि के बीच व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध माना जाता है। भर्तृहरि के अनुसार यह शब्द ज्ञान रूप है, जो शब्दरूप में भासित होता है। इ प्रकार शब्द ही सर्वत्र व्याप्त है और सभी व्यवहार का साधक है।

21.22 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क्र.सं.	ग्रन्थनाम	लेखक/सम्पादक	प्रकाशन
1.	वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड	पं. वेदानन्द झा	मन्दाकिनी संस्कृत परिषद् दिल्ली चौखन्भा संस्कृत प्रतिष्ठान 1987.
2.	वाक्यपदीयम् ब्रह्मकाण्ड	पं. सूर्यनारायण शुक्ल	चौखम्भा संस्कृत संस्थान1976.
3.	वाक्यपदीयम्	पं. रघुनाथ शर्मा कृत् अम्बाकर्त्री (व्याख्या)	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1977.
4.	वैयाकरणसिद्धान्तल घुमञ्जूषा	पं. सभारति शर्मोपाध्याय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान् 1999.
5.	परमलघुमञ्जूषा – सरला व्याख्या	पं. श्रीराम चन्द्र मिश्र	कामेश्वरसिंह दरभंगा विश्वविद्यालय, दरभंगा, 2000.
6.	वैयाकरणभूषणसार	कौण्डभट्ट	चौखन्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2010.
7.	महाभाष्यम्	पतञ्जलिकृत	चौखन्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, 2007.